इतनी 'एकता' थी कि दोनों एक दूसरे से आंतरिक रूप से सम्बद्ध दिखाई देते हैं जो बाद में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है, फिर चाहे वो रोम में हो या, कुस्तुनतुनिया में।

पर एक बात उन सब में समान थी, और वह यह कि जीवन-यात्रा के लिये जो भी ज़रूरी था और जो लोग उसको बनाने-जुटाने में दिन-रात लगे रहते थे, उनके काम की न कोई इज़्ज़त थी, न उसकी। इज़्ज़त उन्हीं लोगों की थी और उस काम की थी जिसका ज़िन्दा रहने से कोई सीधा सरोकार न था और इसका मतलब यह था कि करीब-करीब 90 फ़ीसदी लोग जिनके बगैर उन 10 फ़ीसदी लोगों की ज़िन्दगी चल नहीं सकती थी, उनको 'आदमी' समझा नहीं जाता था।

यह बात पुरानी संस्कृति के बारे में ही सच हो, ऐसा नहीं है। आज भी कुछ-कुछ हालत वैसी ही है। यह ठीक है कि मार्क्स ने अपने विचार में जो हाथ से काम करते हैं या मज़दूरी करते हैं उनको ऐतिहासिक प्रधानता दी थी। और माओ ने तो दिमागी काम करने वालों के लिये यह भी अनिवार्य बताया कि वे गाँव में जाकर किसान मज़दूर के साथ हाथ बँटायें और काम करें। पर इसका नतीजा कम से कम वैसा नहीं हुआ जैसी उम्मीद की जाती थी, क्योंकि मार्क्स हो या माओ दोनों एक तरह से, बुद्धिजीवी हो थे। माओ ने तो खुद लड़ाईयाँ भी लड़ी थीं, और भी बहुत से काम किये थे। पर उसने मेहनत-मज़दूरी की बात को उसी तरह से गलत समझा जिस तरह मार्क्स ने। बात न किसान/खेतिहर की है न फैक्ट्री के मज़दूर की। बात उस काम की है जो हर घर में, चाहे वो गाँव में हो या शहर में, चौबीस घंटे चलता रहता है, हर रोज़, हर दिन, हर महीने, हर साल। जब तक इसकी ओर ध्यान नहीं दिया जायेगा तब तक आदमी की ज़िन्दगी के बारे में सोचना सिर्फ़ हवाई किला बनाने जैसा होगा। और आज तक ऐसा लगता है कि आदमी ने ऐसा ही किया है। बुद्ध हो या महावीर, शंकर हो या रामानुज, ईसा हो या मुहम्मद, मार्क्स हो या माओ, सब इस संदर्भ में एक जैसे ही लगते हैं। आज ज़रूरत इस बात की है कि हम इस हज़ारों साल की कमी को पूरा करें और ज़िन्दगी को ज़िन्दगी के रूप में जीने की कोशिश करें, उसमें आत्मीयता बढ़ायें जिससे ऐसी भावना जन्म ले जो ज़िन्दा रहने के लिये ज़रूरी काम को अहमियत दे। हम कवि और कलाकार को, विचारक और वैज्ञानिक को, राज्य चलाने वालों को और धन कमाने वालों को इज़्ज़त की नज़र में देखते हैं जैसे उनका काम ही काम हो। यह 'काम' सब बराबर हैं, और काम करने वाला, उससे भी बड़ा, क्योंकि वह 'स्रोत' और 'क्षेत्र' दोनों है। कर्म और कर्म करने वालों के प्रति आदर, श्रद्धा और चेतना में उसकी सहज स्वीकृति ही जीवन में वह 'परस्परता' ला सकती है जो एक दूसरे को अधिक सार्थक, सहज और रसमय जीवन जीन में कुछ अधिक सहायक शायद हो सकती है, वरना तो हम एक-दूसरे के लिये समस्या बनाते रहेंगे। ❑

परस्पर : युगबोध, ऐतिहासिकता और आधुनिकता

दयाकृष्ण और मुकुन्द लाठ (संवाद)

मुकुन्द जी : युगबोध की बात उठाता हूँ। आजकल बहुत उठती है। हम जो सोचते-समझते हैं, उसे हमारा विवेक न कह कर कुछ और नाम दे दीजिये। सवाल है, क्या उस विवेक का किसी काल विशेष से कोई अन्तरंग सम्बन्ध होता है या वह स्वतन्त्र होता है? आजकल माना जाता है कि काल से—युग से—सम्बद्ध युगबोध जैसा कोई बोध होता है जो हमसे अलग और हमारे साधारण बोध से ऊपर रह कर हमारे विवेक को संचालित करता है। न करे तो करना चाहिये।

दया जी : हमारे यहाँ युग शब्द का कोई विशेष अर्थ नहीं है। वैसे तो हमारे यहाँ चार युग माने गये हैं; पर यहाँ युग का जो भी अर्थ हो, वो अर्थ नहीं हो सकता जो आजकल है। कोई ये नहीं कहेगा कि आप कलियुग में सोच रहे हैं इसलिए आपका विचार कलियुग से प्रभावित है। आजकल युग का अर्थ कुछ अजीब सा है। उसका मतलब ये है कि हम जिससे प्रभावित हैं, उसी को युग का नाम दे देते हैं। अगर किसी में वह प्रभाव काम नहीं कर रहा है तो कह देते हैं कि वह युग में नहीं रहता। ऐसा युग शब्द का अर्थ नहीं है। ये केवल चलताऊ शब्द है। लोग प्रयोग करते हैं मगर बगैर विचार के करते हैं।

मुकुन्द जी : पर दया जी, अपने यहाँ चतुर्युग की जो धारणा है, वहाँ युग-विशेष का ये अर्थ है कि चेतना काल से प्रभावित होती है। सतयुग में वो काल हमारे बोध को, विचार को, कर्म को, भावना को एक विशेष रूप से संचालित करता है, हमारे चाहे-अनचाहे बिना। कलियुग में भी, दूसरी दिशा में, ऐसा ही करता है। दूसरे युगों में भी।

दया जी : इस बात के कुछ अलग-अलग अर्थ हैं। एक का सम्बन्ध सत्त्व, रज, तम इन गुणों से है। चेतना में किसी एक गुण का प्राधान्य हो सकता है। अगर गीता के 17वें और 18वें अध्याय को देखें तो बुद्धि का, ज्ञान का, हर बात का युगबोध या कालबोध से क्या सम्बन्ध है? यह

बात सार्वकालिक है। सत्त्व, रजस्, तमस् सदा रहते हैं, हम सतयुग आदि की भी सदा उपस्थिति की कल्पना कर सकते हैं। इसका अगर काल से सम्बन्ध है भी तो किसी कालबोध से नहीं है। काल से भी एक उथला सा, गौण सा ही सम्बन्ध है। हर पीढ़ी में होता है। बीस और तीस के बीच आपने जो पढ़ा था उसका गहरा असर होता है। जब आप और बड़े होते हैं, पढ़ना-लिखना छोड़ देते हैं तो वही पुराना पढ़ा-लिखा, उस समय का बौद्धिक वातावरण, आपको प्रभावित करता रहता है। या यो समझ लीजिये कि आप के विचारों को परिचालित करता है। कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो बाद में भी पढ़ते-लिखते रहते हैं, उन पर एक ही प्रभाव नहीं पड़ता। जिसको आज आधुनिक कहते हैं वो भी प्रभावित करता है, उनमें, देशकाल के और प्रभाव देखे जा सकते हैं। अब जैसे आप भारत में हैं—या जहाँ भी हैं, जिस भी देश में अवस्थित हैं—उस देश से, वहाँ के वातावरण से, आप प्रभावित होते हैं। ऐसा कोई भारत में नहीं है जिसको भारत की परम्परा और उसकी दूसरी बातें—प्रभावित नहीं करतीं। चूँकि पश्चिम का प्रभाव आज छाया हुआ है, पश्चिम का भी प्रभाव पड़ता है—अगर अंग्रेज़ी जानता है तो ज़्यादा प्रभाव पड़ता है, अंग्रेजी नहीं जानता तो कम। सोचिये कि फ्रेंच, जर्मन आदि का हम पर कितना प्रभाव है? जिसको हम आज युगबोध कह रहे हैं, अंग्रेज़ी से बना-बँधा हुआ है! चीन में जो विचार हो रहा है, रूस में जो विचार हो रहा है, उसका तो पता ही नहीं है। तो आज जो अमरीका, इंग्लैण्ड में चलता है—या फ्रांस जैसे देश को भी ले लीजिये—वहाँ जो चलता है, वह 'युगबोध' के नाम पर चलता है। उसी को लोग युग के नाम पर लिए रहते हैं। ऐसे युगबोध का कोई अर्थ नहीं है। मैं तो कहूँगा कि इससे जो परिचालित होता है उसे चिन्तक कहा ही नहीं जा सकता।

मुकुन्द जी : ये तो खैर ठीक है क्योंकि परिचालन तो विवेक से होना चाहिये। युगबोध संस्कार में कुछ हो भी, तो भी उस पर विवेक किया जा सकता है। प्रधानत: विचार में विवेक को ही होना चाहिये। लेकिन युगबोध ही अगर आपका विवेक बन जाये तो?

दया जी : इस बात को थोड़ी और गहराई से देखें। मनुष्य में परिपक्वता कैसे आती है? स्वातन्त्र्य से आती है। जिसको भी आप युगबोध कहें, जिस भी विचार का आप पर साम्राज्य हो, उससे जैसे-जैसे स्वतन्त्र होते हैं, उसकी धारणाओं से. विचार-कोटियों से, जैसे-जैसे आप

मुक्त होते हैं, उतना ही वास्तव में विचार की प्रक्रिया में आगे बढ़ते हैं।

मुकुन्द जी : देखिये एक तो आप जो बात कह रहे हैं, कुछ लोग कहेंगे कि 'आधुनिक' होने की, युगबोध से प्रभावित होने की ये भी एक निशानी है। परिस्थिति और परिस्थिति के भेद से जैसा ज्ञान आप को होता है उसमें भेद, ये तो सदा रहा है। पर आज ये माना जा रहा है कि आज परिस्थिति में ही एक ऐसा आधार-गत परिवर्तन आया है कि समूल नयी दृष्टि जाग उठी है—मनुष्य की चेतना में आज का युगबोध स्वतान्त्र्य-बोध ही है। एक सर्वथा नयी परम्परा ने आज करवट ली है, और वही आधुनिक परम्परा है। वही आपको स्वातन्त्र्य की ओर उन्मुख कर रही है।

एक काल-विशेष में और एक परम्परा-विशेष में (ई.पू. 5वीं-4थी सदी ग्रीस में) स्वातन्त्र्य-बोध के बीज डाले गये; वह परम्परा (योरोप में) आगे बढ़ी और वही स्वतान्त्र्य की परम्परा है, उसके अलावा जो भी परम्परायें हैं वो बन्धन की परम्परायें हैं। जो इन बन्धन की परम्पराओं में पलते-बढ़ते हैं उनमें स्वातन्त्र्य के प्रति जागृति उभरती ही नहीं, क्योंकि उनकी परम्परा ही उनमें ऐसे संस्कार डालती है जो स्वतान्त्र्य के विरोधी होते हैं। संस्कार उधर जाने से रोकते हैं। अब आधुनिक परम्परा को—चाहे परम्परा ही कह लीजिये, जो कि कहा नहीं जाता—उसकी धारा बिल्कुल अलग है। आपने जो कहा कि स्वातन्त्र्य का बोध होना चाहिये और व्यक्ति को होना चाहिये, यह इसी धारा की बात है। यह बोध ही आधुनिक बोध है, या युगबोध कहिये। कहा जा सकता है—और लोग कहने से नहीं चूकेंगे—कि आप जैसी बात कर रहे हैं, वो आज के युगबोध से परिचालित बात है, क्योंकि दूसरी—पुरानी—परम्पराओं में इस तरह की बात कही ही नहीं जाती।

दया जी : ये तो बेकार की बात है। हर व्यक्ति को अहम् होता है, कि मैं जहाँ हूँ, जिस देशकाल में हूँ, वही वास्तव में सब कुछ है। उसके पहले कुछ नहीं था। वो यह भी भूल जाता है कि उसके बाद क्या होगा! बिल्कुल नया कुछ और होगा। देश और काल, ये पीढ़ियों का प्रश्न होता है। हरेक नौजवान को गुमान होता है कि बस मैं ही हूँ इस दुनिया में, मेरे पहले दुनिया नहीं थी। हर नया लेखक, विचारक स्वतान्त्र्य की बात करता है। किस रूप में बात को रखता है, ये अलग बात है।

लेकिन एक जो यहाँ गहरी बात है, ये है कि विचार हमेशा एक परम्परा में होता है—कोई भी विचार हो। आधुनिकता की भी एक परम्परा है। और उससे भी स्वतन्त्र हो पाना कठिन है आज। जिसे पोस्ट-मॉर्डनिज़्म कहते हैं, वह मॉर्डनिज़्म से स्वतन्त्र होने की कोशिश है। पर वो भी एक फैशन है, जैसे लड़कियों के ड्रेस में होती है। विचारक, चाहे, मॉर्डन ही सही, वो जो प्रश्न उठाता है, विचार की जिन कोटियों में विचार करता है, ये लकीर बँधी होती है। लोग भी विचारक कहते ही उसे हैं जो फैशन में ढ़ले हुए शब्दों का, बँधी-बँधाई कोटियों का प्रयोग करता है, और वही प्रश्न उठाता है जो आज जाने-माने प्रश्न हैं। लेकिन जो सचमुच विचारक होता है, वो नये प्रश्न जागृत करता है, नयी कोटियाँ स्थापित करता है। इसीलिए हम कहते हैं कि वो नया विचारक है। बाकी लोग तो पीछे चलने वाले, नारे लगाने वाले होते हैं।

मुकुन्द जी : दया जी, ये तो ठीक है कि एक लकीर की फकीरी हम सबमें होती है—हमको अपने अन्दर भी दिखायी देती है, औरों में भी दिखती है। और जैसा आपने कहा, हम एक परम्परा में विचार करते हैं। वो परम्परा कहीं की तो होती ही है, उसका एक स्वरूप भी होता है और उसकी सीमायें भी होती हैं। ये सब तो ठीक है।

पर एक बात और देखिये। आज युगबोध के साथ एक और बोध काम करता है—या उसे आज के युगबोध का अभिन्न अंग कहिये—वो है इतिहासबोध। एक गहरी दृष्टि से देखिये तो इतिहासबोध अपने आपको परम्परामुक्त मानता है। भिन्न परम्पराओं को वो जैसे अपने आगे रख कर निःसंग दृष्टा की तरह अलग खड़ा देखता है। तभी उनके बीच तुलना कर पाता है कि अमुक परम्परा में ये गुण है तो दूसरी में नहीं है। और अगर उस गुण में औचित्य है, प्रकाश है, चेतना का कोई विराट भाव है तो इस बात को तो पकड़ता है। किसी संस्था-विशेष में या धारा-विशेष में अगर ऐसा प्रभाव है जो मनुष्य को बाहर और भीतर के अभ्युदय की ओर ले जाता है तो इस बात को भी इतिहास पकड़ता है। तो आज का युगबोध इतिहासबोध से जुड़ा होने के कारण ऐसा नहीं है कि किसी परिस्थिति या परम्परा के भीतर बँधा है। ऐसा आज तक होता रहा होगा, पर आज का युगबोध दावा करता है कि अब हम परम्परा में रह कर नहीं, बल्कि परम्परा से हट कर परम्परा-विशेष को अपना रहे हैं। आज हम उस परेण्य परम्परा को विवेक के साथ अपना रहे हैं, चुन रहे हैं, जो मनुष्य के लिए सबसे उचित है, जिसमें मनुष्य की

अपनी मनुष्योचित चेतना सबसे अधिक जागेगी और फले-फूलेगी। कहना न होगा, ये परम्परा पश्चिम की परम्परा है! क्योंकि वही अकेली परम्परा है, जिसका मूल 'रीज़न' है—रीजन के लिए हिन्दी में एक शब्द नहीं है, पर बुद्धि की प्रज्ञा कह सकते हैं। किसी कारण से यह प्रज्ञा प्राचीन ग्रीस में जागी—वहीं क्यों जागी, यह बात रीज़न के परे हो सकती है, पर इसमें शक नहीं कि रीज़न ने पहली अंगड़ाई वहीं ली। पनपी भी वहीं। आगे के इतिहास में उतार-चढ़ाव भी रहा—मध्ययुग में रीज़न को श्रद्धा के झूठ ने—या मोह ने—बहका दिया। वो धुँधली पड़ गयी। पर फिर काल ने करवट ली, और वो दुबारा दुगुनी चमक से उभरी। पश्चिम में जन्मी थी और वहीं परवान चढ़ी। वहीं उसके स्वरूप में विकास हुआ। आज जो वो पश्चिम के बाहर भी विस्तार ले रही है, यह पश्चिम का पुरुषार्थ है—सबके लिए सौभाग्य की भी बात है—क्योंकि रीज़न की उस परम्परा में बसना, यही आधुनिक होना है, यही मनुष्य की काम्य स्थिति है—क्योंकि रीज़न ही मनुष्य है। दूसरी परम्परायें कहने को ही परम्परायें ...

दया जी : इससे बड़ा भ्रम कोई नहीं हो सकता। वास्तव में इतिहास और परम्परा में कोई फर्क नहीं है। अगर परम्परा है तो इतिहास है, बिना परम्परा के इतिहास की कल्पना ही नहीं हो सकती। परम्परा का आत्मबोध ही इतिहास है। परम्परा का आत्मबोध कैसे होता है, ये और बात है। इसके अनेक स्वरूप हो सकते हैं। किसी मूलसूत्र पर भाष्य, वार्तिक, टीका, यह भी परम्परा के आत्मबोध की ही यात्रा है। भारत में इसकी कम से कम दो हज़ार साल की अविच्छिन्न परम्परा है। आप परम्परा के किसी ग्रन्थ को पढ़ें। आप देखेंगे कि जिसको आप इतिहासबोध कहते हैं, वो उस ग्रन्थ के रूप से ही अनुबद्ध है—सूत्र, भाष्य, टीका, परिशुद्धि, ये एक-दूसरे से गुँथे हुए इस तरह युक्ति और चिन्तन को आगे बढ़ाते हैं कि एक में दूसरे की अनुवृत्ति होती चलती है; एक में दूसरा उसका हिस्सा बन कर रिपीट होता है ये इतिहास की यात्रा के प्राण का प्रमाण है। आज भी आप विज्ञान को देखिये, विज्ञान का कोई परचा पढ़िये, हर परचे में पहले जो रिसर्च हो चुकी है, वो नीचे फुटनोट में होती है। लेखक इस बहाने हमसे कहता है कि वो पिछले ज्ञान को पीछे छोड़ कर आगे जा रहा है, ये बोध क्या है? इस बोध के तात्पर्य को यूँ कह सकते हैं : पीछे के लोगों ने कुछ ज्ञान अर्जित किया, उन्होंने हमें कुछ दिया है, और हमने उनसे कुछ लिया है; और अब हम उस ज्ञान में नया परिष्कार

कर रहे हैं, कुछ जोड़ रहे हैं, घटा रहे हैं। यही इतिहास है। वास्तव में इतिहास हमारी धमनियों में, हमारे शब्द में व्याप्त है। भाषा के रूप में व्याप्त है। हम भाषा को स्वयं थोड़ा ही गढ़ते हैं। उसका अपना प्रवाह है जिसमें हम होते हैं। फिर भी हर लिखने वाला अपने आप को स्वतन्त्र मानता है, प्रवाह को स्वीकार नहीं करता। पिछला जो कुछ उसे मिलता है, उससे इन्कार ही करता है—नया कुछ लिखता है। हम पश्चिम की परम्परा को ही अपनी परम्परा मान कर लिखें तो भी यही करेंगे। मुसीबत आज ये है कि जो पश्चिम के बाहर के विचारक हैं, वो इस सहज नयेपन से डरते हैं। उनमें यह लेखक-सुलभ मनोभाव नहीं है कि पश्चिम में जो कुछ है वो सभी साधु नहीं है, क्योंकि पश्चिम उनके लिए निकष है, परम्परा नहीं है, प्रवाह नहीं है। यात्रा नहीं है, गन्तव्य है। अगर पश्चिम की यात्रा हमारी यात्रा होती तो हम उसमें अपना स्वातन्त्र्य ढूँढ़ते। जब हमारी चेतना इस बोध से पूर्वग्रसित हो कि जो पेरिस में, लन्दन में, न्यूयार्क में होता है वो निकष है तो हम उससे स्वतन्त्र होना चाहेंगे, उसकी अनुकृति करना नहीं चाहेंगे। हम उसे पीछे छोड़ कर आगे नहीं बढ़ना चाहते, जो कि पेरिस में, लन्दन में, न्यूयार्क में, परम्परा की स्वभावगति से अपने आप होता है। वहाँ वाले अपनी नकल नहीं करते, हम उनकी नकल करते हैं। हम अनुकृति चाहते हैं, परम्परा की यात्रा, उसका प्रवाह नहीं। हमारी विड़म्बना है कि जिसकी हम नकल करना चाहते हैं वो तो बदलता रहता है। हम नहीं बदलते। पर वहाँ जो बदलाव आता है, फिर उसकी नकल में जुट जाते हैं। यही बीमारी है, और बीमारी हम में है। हम में ही नहीं, चीन, जापान सब जगह फैली है।

मुकुन्द जी : इतिहासकार की तरह थोड़ा डूब कर देखिये तो इसी बात में युगबोध का सन्दिग्ध चिह्न देख सकते हैं। अब देखिये, हम समझ रहे हैं कि जो कुछ हो रहा है, एक अनुवृत्तिमात्र है। सही अर्थ में परम्परा नहीं है। दूसरे से ली हुई एक परिपाटी में हम अपने आप को कस रहे हैं, बाँध रहे हैं, परम्परा की सहज यात्रा में पाँव नहीं बढ़ा रहे हैं। दूसरे की यात्रा चलने का स्वाँग रच रहे हैं। लेकिन अपनी इस अकारथ चेष्टा के झूठ को जानते हुए भी हम उससे मुक्त नहीं हो पाते हैं, विवश से चलते रहते हैं। यही तो इतिहास का बन्धन है। युग की अनिवार्य गति है। और मनुष्य अगर आत्मचेतन जीव है तो किसी न किसी अर्थ में यह गति उसकी चेतना से—उसके बोध से—भी सम्बद्ध है ही। कई लोग युग की इस गति को युगबोध कहते हैं,

क्योंकि हम में ये गति बोध के बिना नहीं हो सकती। इस गति को प्रगति की ओर बढ़ता देखते हैं, और बड़ी प्रशंसा की बात मानते हैं। आप कहें कि यह युगबोध कैसा जिसमें आत्मबोध ही नहीं है, जो हमें घसीटे लिए जा रहा है, तो उत्तर आसान है : इतिहासबोध में पला, देखने वाला विचारक तो इस गति को देख ही रहा है, पहचान ही रहा है। तो विचारक का धर्म ही है कि वो अपनी इस पहचान को उन तक ले जाये जिनमें युग का आत्मबोध नहीं है। क्योंकि युग केवल 'है' ही नहीं इसे 'होना भी चाहिये'। इस 'होना चाहिये' को भी बुद्धि पकड़ती है और जो पकड़ लें, उनका धर्म है कि युगबोध को सब तक ले जायें। कोई अगर दृष्टिहीनता में विरोध करे तो उसे दूर हटायें। टुकड़े-टुकड़े में बँटा मनुष्य आखिरकार, पश्चिम के अग्रगामी इतिहास की कृपा से ग्लोबल—सार्वजनीन, सार्वदेशिक—हो जाने के कगार पर है। रोकना नासमझी ही नहीं, इतिहास को व्यर्थ धोखा देने की चेष्टा होगी। ये इतिहास की अपनी यात्रा है जो हमें आगे ले जा रही है, हम चाहे या न चाहें। इस यात्रा का बीज, इसका स्पन्द अगर पश्चिम में है तो इससे उज्र क्या?

पर विचार में विरोध सहज होता है, बुद्धि प्रश्न और विरोध में ही पलती है। कुछ थोड़े से लोग, कम शक्तिवाले लोग जिनकी तूती नहीं बोलती, ऐसे भी हैं जो इन बातों को मिथ्या मानते हैं, प्रश्न उठाते हैं, प्रमाण चाहते हैं, कह देते हैं कि युग होता ही नहीं, या होता भी है तो उसे बीस तरह से कूता जा सकता है, बीस गतियाँ देखी जा सकती हैं, एक गति की तानाशाही क्यों? भविष्य किधर जा रहा है ये इतिहास में रहते हुए कौन बता पाया है? और न बता पायेगा। आप जैसे, ऐसे भी विचारक हैं जो यहाँ तक कह देते हैं कि मनुष्य के साथ ज़बरदस्ती की जा रही है, एक परम्परा अपने आप को सब पर हावी कर रही है। पर चाहे हर देश के कुछ विचारक, वहाँ के गहरे लोग ऐसा सोचें भी, पूछें भी कि हम जा कहाँ रहे हैं, और जिधर जा रहे हैं उधर जाना ठीक भी है क्या? रास्ते को सन्देह की आँख से देख, उसे भ्रान्ति या मोह मानें, तो भी धारा उनको भी बरबस बहा कर ले जाती है। और यही इतिहास है, इसी का बोध में स्वीकार युगबोध है।

लेकिन एक दूसरा विचार उठाता हूँ, ऊपर की बातों के विरुद्ध। आपने एक बात कही उसको कुछ बढ़ाता हूँ। आपका ये तात्पर्य निकलता है कि हम भारत में युगबोध की बात करते हैं तो बहुत कुछ नासमझी में करते हैं। उसको अगर रीज़नविहीन, अन्धा या रूढ़

मानते हैं, तो पश्चिम की बात दोहराते हैं। आपने ये कहा कि नकल या अनुवृत्ति परम्परा नहीं होती। परम्परा के शब्दों में आपकी बात कहूँ, तो परम्परा के लिए प्रतिभा आवश्यक है जो पुराने से ही नये की ओर बढ़ती है। पर परम्परा जहाँ नये की ओर बढ़ती है, वहाँ पुराने का संरक्षण भी करती है। इस अर्थ में परम्परा पुराने की अनुवृत्ति या नकल भी करती चलती है। पर बिल्कुल रूढ़ या जड़ कभी नहीं हो जाती है। प्रतिभा का नवोन्मेष रहे ही नहीं तो परम्परा ही नहीं होगी। यह बात आज जितनी सच है उतनी ही पहले भी थी। जिन्हें हम अपने अज्ञान में निरे परम्पराजीवी ठहराये बैठे हैं, उनमें भी ये बोध स्पष्ट था। हममें आज ये संस्कार डाला गया है कि परम्परा में ये बोध हो ही नहीं सकता इसलिए हम इसकी अपेक्षा नहीं करते। कभी दिखता है तो हमें चौंका भी देता है।

न्यायशास्त्र की—या पुराने न्यायशास्त्र की कहिये—उसकी मुख्य ग्रन्थ-परम्परा को यों रख सकते हैं : पहले गौतम का सूत्र, उस पर वात्स्यायन का भाष्य, भाष्य पर उद्योतकर का वार्तिक, वार्तिक पर वाचस्पति की टीका और टीका पर उदयन की परिशुद्धि, जो दसवीं-ग्यारहवीं सदी में लिखी गयी। आपने भी परम्परा की बात करते हुए सूत्र, भाष्य, वार्तिक, टीका इस क्रम की बात की थी। शायद न्याय की ही परम्परा आपके ध्यान में थी। आज के किसी आधुनिक कहलाने वाले लेखक की तरह ही उदयन अपने को आधुनिक कहते हैं। परम्परा में अपने नये अपूर्व उन्मेष की उन्हें पूरी चेतना थी। वे अपने आपको और अपने साथी नैयायिकों को 'आधुनिक' और 'अभिनव' बताते हैं। उनसे कोई डेढ़ सौ साल पहले एक प्रसिद्ध, प्रभावशाली और प्रतिभाशाली नैयायिक हो गये थे, जयन्त। उदयन, अपने आप को आधुनिक कहते हुए, जयन्त को पुराना, 'बूढ़ा', नैयायिक—जरज् नैयायिक—ठहराते हैं। उनके अपने 'आधुनिक' विचार में नयी, अपूर्व—या आज के शब्दों में 'क्रान्तिकारी'—बात क्या है इसकी भी वो व्याख्या करते हैं। उदयन के दो एक शताब्दी बाद नव्य नैयायिक हुए, आधुनिक से भी नये, जैसे आज पोस्टमॉर्डन हैं। 'आधुनिक' तो हो चुके थे, तभी ये अपने आप को 'नव्य' कहते हैं। ये परम्परा की एक धारा तो साफ हमारे आगे है, जिसमें नित नया होता रहा है, प्रतिभा का विस्तार होता रहा है। ऐसी ही और भी धारायें हैं, जैसा आपने स्वयं अपने भारतीय विचार के नये इतिहास में दिखाया है, जहाँ 18वीं सदी से लगभग आज तक के नये विचार का ब्यौरा है—उस युग के आधुनिक बोध

का ब्यौरा है, जिस युग में पश्चिम के आने के बाद हम परम्परा को एकदम से निश्चल और ठूँठ मानते हैं। आज आधुनिक होने का एक अर्थ यह भी है कि पश्चिम के सिवा जितनी भी परम्परायें हैं, उनको यों आँका समझा जाये, यो बाँध दिया जाय कि वे स्थिर और स्थाणु दिखायी दें, उनमें गति लगे भी तो गति का प्रतिभास ही ठहरे, वास्तविक गति नहीं। रूढ़ि ही प्रधान दिखे, प्रतिभा का प्रवाह या तो गौण दिखे या सार्थकता-विहीन। कुछ नया दिखे तो बँधा-बँधाया और एक प्रश्न तो हमेशा तैयार रहता है : भारत में—या पश्चिम-भिन्न किसी भी और परम्परा में—नया अगर सचमुच आया तो विज्ञान क्यों नहीं आया? आधुनिकता की धरती तो विज्ञान ही है!

दया जी : इस बात में भारी भ्रम है। इसके मूल में एक आत्मवञ्चना है। जिस तरह के इतिहासबोध की आज दुहाई दी जाती है, वो इतिहासबोध ही नहीं है। एक बीसवीं शताब्दी क्या बीती, हमारा इतिहासबोध भी उसी की सीमा में घिर कर ठहर गया है। हमें वास्तव में इतिहासबोध होता तो काल के विस्तार का भी बोध होता। सही परिप्रेक्ष्य होता। लेकिन हम बात यों करते हैं जैसे बीता हुआ काल बस बीसवीं सदी है। वही मनुष्य का इतिहास है। भारत में तो यह धोखा बहुत ही गहरा बैठ गया है। हम थोड़ा पीछे जाते भी हैं, तो अंग्रेज़ के आने तक ही जाते हैं। जैसे वहीं से इतिहास शुरू होता हो। हम ये तस्वीर बनाते हैं : 1757 में प्लासी की लड़ाई हुई, और अंग्रेज़ों का हम पर राज हो गया। लेकिन सोचिये। सौ साल लगे थे। अंग्रेज़ को पाँव जमा कर साम्राज्य फैलाने में। और सौ साल बीते नहीं कि 1857 में गदर हो गया—स्वतन्त्रता आन्दोलन शुरू हो गया। 90 साल बाद 1947 में अंग्रेज़ यहाँ से चला गया। फिर अंग्रेज़ को हम अपने इतिहास में इतना विराट रूप क्यों देते हैं, लगता है उसे हम अपना इतिहास-पुरुष ही मान बैठे हैं! अब किसी को सचमुच इतिहासबोध हो तो काल की इस अवधि को क्या ध्यान में नहीं रखेगा? क्या होते हैं दो सौ साल इतिहास के कालक्रम में और वो भी हमारे इतिहास के कालक्रम में? फिर यह भी देखिये। इन दो सौ सालों में हिन्दुस्तान में क्या हुआ, इसका भी किसी को ठीक पता नहीं। दूसरे भी तो देश हैं। इंग्लैण्ड के सिवा, पश्चिम के देशों के सिवा। वहाँ पिछले दो सौ साल में क्या हुआ? हम कहाँ खबर रखते हैं! हम जिसे इतिहासबोध कहते हैं वो इतिहासबोध नहीं, इतिहासबोध का छलावा है। हम अपने ही लिए एक इन्द्रजाल सा बुनते हैं। अंग्रेज़ों के आने के साथ हम

अपना जागरण मानते हैं, जैसे उसके पहले हम सुषुप्ति में थे—मतलब थे ही नहीं।

पर इतिहास की ओर देखिये। संस्कृतियों का आपस में आदान-प्रदान कोई नयी बात नहीं है। एक संस्कृति या सभ्यता का दूसरे पर प्रभाव या इससे आगे बढ़ कर एक संस्कृति में दूसरे की अनुवृत्ति—जैसी कि आज पश्चिम की, की जा रही है, ये इतिहास में सदा से होता आ रहा है। रोम ने ग्रीस की अनुवृत्ति की। ग्रीस ने मिस्र से—और भारत से भी—बहुत कुछ लिया। बौद्ध धर्म और उसके साथ भारतीय चिन्तन, भारतीय कला, ये चीन गये। योरोप ने ग्रीस का चिन्तन अरबों से सीखा ... ऐसा लेन-देन तो निरन्तर होता ही रहा है। हम भूल जाते हैं कि आदान-प्रदान संस्कृतियों का सनातन स्वभाव है। ये कब नहीं देखा गया है कि किसी संस्कृति में कोई राजनीतिक शक्ति आ जाये तो वो दूसरी पर प्रभाव डालती है। जिसके पास धन हो, प्रभुत्व हो, उससे सब आक्रान्त हो ही जाते हैं, उसकी नकल भी करते ही हैं। इसमें अनोखी बात क्या है? उस दिन को बहुत दिन नहीं हुए हैं जब हमारे यहाँ लोग अंग्रेज़ी नहीं, फ़ारसी पढ़ते थे, फ़ारसी में लिखते थे। मुग़ल का राज था। उस राज के जाने के बाद भी सिलसिला चलता रहा था। सैकेण्ड वर्ल्डवॉर के बाद के योरोप को देखिये। बैठ गया है। अमरीका का बोलबाला है। इतना बड़ा साम्राज्य था इंग्लैण्ड का। इंग्लैण्ड की आज कौन बात करता है। आज अमरीका ही अमरीका है, क्योंकि उसके पास शक्ति है, धन है, प्रभुत्व है। ये नहीं रहेंगे तो उसका बुखार भी उतर जायेगा।

लेकिन इससे भी गहरी एक बात मैं कहना चाहता हूँ। हम भविष्योन्मुख हैं, और आगे बढ़ कर ही पीछे को इतिहास के रूप में आँकते-परखते हैं—उसका एक स्थिर सा चित्र बनाते हैं कि ये हुआ था, यूँ हुआ था। 21वीं सदी के अन्त में हम मुड़ कर देखेंगे तो आश्चर्यचकित रह जायेंगे। आज हम सोचते हैं कि हम नया कुछ नहीं कर पा रहे, दूसरे की छाया में जीते हैं, प्रतिभा में परोपजीवी हैं। पर हम लौट कर देखेंगे तो पायेंगे कि हमने अपने आप को ग़लत समझा था।यह मैं इसलिए कह रहा हूँ कि मैंने जब 18वीं सदी से लेकर अब तक के विचार को मैंने पीछे मुड़ कर देखा तो आश्चर्यचकित रह गया। कितना कुछ नया कहा गया है और हमारे सामने है, पर हमें दिखता नहीं है। क्यों नहीं दिखता? कारण यह है कि हम अपनी दृष्टि को नये की ओर खुलने ही नहीं देते। सामने हैं, पर अनदेखा कर देते हैं; उधर देखना ही नहीं चाहते। अपनी

पुतलियों में हम उसी तस्वीर को बसाये रखना चाहते हैं जो अंग्रेज़ ने आँक दी है। बात दृष्टि की है। असली चीज़ वही है। हमारे चारों ओर जो है, जो हो रहा है, उधर हमारी दृष्टि जाती ही नहीं, हम यहाँ नहीं कहीं और अपनी आँखों को जमाये रखना चाहते हैं। सोचने की बात यही है कि हमने ये कैसी दृष्टि पाल रखी है कि हम अपने आपको देखते ही नहीं। अपने भीतर की प्रतिभा की ओर झाँकते ही नहीं। अपने आसपास के सृजन की उपेक्षा ही नहीं करते, उसे नीचा दिखाते हैं, उसको नकारते हैं।

मुकुन्द जी : यानि आप ये कहना चाह रहे हैं कि हम में वो युगबोध नहीं है जो कि होना चाहिये। हम अपने ही सृजन की ओर आँख मूँद लेते हैं। यह बात तो सच है। आपने विचार के क्षेत्र में इसे देखा है, कुछ और क्षेत्रों में भी इस बात को देखा जा सकता है। संगीत को लीजिये। शास्त्र और प्रयोग दोनों में नयेपन का निरन्तर उन्मेष है। पिछले दो सौ सालों में संगीत भी और संगीत में चिन्तन भी, दोनों में नया संवेग है। हमारा आज का गाना बजाना पिछले दो सौ सालों में ही पनपा है। बड़े-बड़े प्रतिभाशाली संगीतज्ञ हुए हैं। संगीत को नयी-नयी दिशा देते रहे हैं। बल्कि नयेपन से डर है तो आज है, जबकि हम कहने को नये के पुजारी हैं। पर ऐसा भी नहीं है, दया जी, कि संगीत के इस सृजन के इतिहास को लोग जानते ही नहीं। इस पर गर्व भी करते हैं। पर अचम्भा ये है कि युगबोध की कमी जिन्हें सताती है, वो इसे जान कर अपने युगबोध से इसे नहीं जोड़ते। उनके युगबोध की चिन्ता या तलाश या समस्या इस बोध से अछूती रहती है।

अब ये जो कुछ है, बोध में और युगबोध में, ये एक अजीब सा भेद है। प्रश्न उठाता हूँ। हम बोध साधते हैं, सृजन करते हैं—चेतना का ये स्वभाव-स्वधर्म ही है, पुरुषार्थ है। पर युगबोध साधने का क्या अर्थ? नाच को लीजिये। संगीत की तरह ही हमारा आज का नाच 'आधुनिक' है। इस अर्थ में कि नया उन्मेष है—जैसा उदयन का था। केलू चरण महापात्र के ओडिसी नृत्य को देखिये। जहाँ कुछ था ही नहीं, वहाँ पूरा एक समृद्ध, विदग्ध नाच खड़ा कर दिया उन्होंने। इस बात को लोग मानते भी हैं। पर केलू बाबू का नाच आधुनिक नहीं कहलाता। जिस नाच में पश्चिम की छाया समायी गयी हो, वही आधुनिक कहलाता है, चाहे उसमें प्रतिभा का प्रकाश हो या नहीं। वहीं युगबोध की झँकार सनी जाती है। आपने ठीक कहा था, युगबोध के लिए पश्चिम निकष है। सृजनशीलता निकष नहीं है। नहीं तो आज का संगीत, नृत्य आधुनिक होता। बेढ़ब सी स्थिति है।

तुम्हें नहीं दिखायी देता। हम एक अचल सा युगबोध साधते हैं, बोध की यात्रा नहीं।

मान लीजिये कि हमें कोई युगबोध जैसा बोध संस्कार और शिक्षा के रूप में मिलता है—और वो हमारे सामने कुछ आदर्श रखता है कि हम ये हैं, हमें ये होना चाहिये; हम कुछ बनायें तो यों बनाना चाहिये, तो यह क्या परीक्षा की बात नहीं होनी चाहिये? कोई बोध युगबोध हो, या कहलाये, तो वो अपने आप में ही उचित—या अनुचित—कैसे हो सकता है? आपने कहा कि इसका सम्बन्ध शक्ति और प्रभुत्व के साथ है, बुद्धि के साथ नहीं। ऐसा इतिहास में देखा ही गया है। बात हमारे ही युग की नहीं, सर्वयुगीन है। पर ऐसा भी हुआ है कि विजेता पर उसने प्रभाव डाला जिसको जीता गया, अधीन कर लिया गया। ग्रीस को जब रोम ने जीता तो रोम के पास शक्ति ही शक्ति थी। पर विचार या ज्ञान या शास्त्र की परम्परा नहीं थी। ये उसने ग्रीस से ली। अमीर रोमन ग्रीक फिलॉसफर को खरीद कर तमाशे की चीज़ भी बना लेता था, बतरस के लिए डिनर टेबल पर बिठाता था। जो भी हो, सीखता रोमन ही था। इससे इन्कार भी नहीं करता था। रोम ने ग्रीस से जो लिया, ग्रीस का मान कर ही लिया। ग्रीस ने मिस्र को जीता। पर जीतने से पहले भी, ओर उसके बाद भी, ग्रीस मिस्र के गुरुत्व को मानता रहा, उसे अपना गुरु कहता रहा। तो संस्कृतियों के जो आपस के सम्बन्ध होते हैं, इनके लिए ये कहना कि ये शक्ति पर आधारित होते हैं, ये ठीक नहीं। आज भी देखिये। हम पश्चिम को केवल राजा ही नहीं मानते, राजर्षि भी मानते हैं। वो राजा है तो ऋषि भी है। तभी प्रताप ही नहीं, प्रभाव भी है। हम तो चलिए उनके अधीन रहे हैं, पर चीन और जापान को देखिये। ये विजित लोग नहीं हैं। अपनी संस्कृति में, अपनी भाषा में, हम से कहीं ज्यादा बसे हुए हैं, पर पश्चिम का प्रभाव हमारी तरह ही बटोरते हैं। जापान को जब पश्चिम ने जीता नहीं, तो भी वो आप ही आगे बढ़ कर पश्चिम का ज्ञान ले कर आया। चीन भी यही कर रहा है, जब कि उसकी शिक्षा में हमसे बहुत ज्यादा अपनी परम्परा का प्रभाव है। जहाँ देखिये, लगता है, सारे जगत् में विचार के प्रश्न, सिद्धान्त, विचार की कोटियाँ, ये तो पश्चिम से ही आते हैं। हो सकता है कि ऐसा बहुत दिन न रहे, कभी ऐसा समय आ सकता है कि इन देशों में अपने विचार, अपनी प्रज्ञा जागे। पर आज जिस काल में हम साँस लेते हैं, इस काल में तो पश्चिम ही गुरु है, हम उसके प्रतिबन्ध हों, उससे मुँह मोड़ लें, ये भी क्या विवेक की बात

होगी? और अगर यह सच है तो फिर हमारा बोध अगर किसी और के इतिहास से, या यों कहिये कि उसके काल से, आक्रान्त भी हो तो इसमें विवेक या औचित्य का अभाव क्या है? यह तो ऐसा युगबोध है, जो कि आज, इस काल में, होना ही चाहिये।

दया जी : देखो भइ, ज्ञान कहीं भी उदित हो सकता है। उसके लिए देश या काल कारण नहीं बनते। ज्ञान को पश्चिम या पूर्व से जोड़ना भ्रम है। पश्चिम में पिछले दो-तीन सौ सालों में ज्ञान का एक अपना सा उदय हुआ, विशेषकर विज्ञान का। जिन्हें फिज़िकल साइन्सेस कहते हैं, उस क्षेत्र में। तो उस ज्ञान का कहीं भी उदय हुआ हो, वो सब जगह फैलेगा ही। सब लोग उसे आत्मसात करेंगे, फिर अपनी तरह समझेंगे, बढ़ायेंगे, अपना बनायेंगे, उसमें अपनी तरह योगदान करेंगे।

ज्ञान के साथ ऐसा होता ही है। ये बात पहले भी कई बार हुई है। तुमने ग्रीस और इजिप्ट की बात की। ठीक है, ग्रीस ने मिस्र से लिया होगा, लेकिन ज्ञान के इस प्रकार को पूरब, पश्चिम, इन दिशाओं से जोड़ना मूर्खता है, क्योंकि मनुष्य सब जगह है, उसकी चेतना सब जगह है। एक सूत्र में बँधी है। जो योरोप में हुआ है, उसके पीछे योरोप का 'अपना' कितना है? उसने क्या-क्या कहा, कहाँ से लिया है, ये अपने आप में एक कहानी है।

लेकिन फिर भी संस्कृतियों की समस्या असल है। विशेषकर तीन बड़ी संस्कृतियों की—चीन की, हमारी, और जिसको अरब कहा जाता है, उसकी। इनके अपने ज्ञान का एक समृद्ध संसार है, और अनेक क्षेत्रों में है। विशेष कर उन क्षेत्रों में जिन्हें मनुष्य के क्षेत्र कह सकते हैं—समाज पर सोचा गया है, चेतना पर सोचा गया है, मनुष्य और शेष संसार—जीव, वनस्पति—इनके सम्बन्धों पर सोचा गया है। इन विचारों की अपनी दृष्टि है, धारणायें हैं, कोटियाँ हैं—प्रश्न हैं। इन कोटियों का पश्चिम की कोटियों से क्या सम्बन्ध है, और आगे क्या सम्बन्ध उभरेगा, यह एक गहरा सवाल है। पहली दृष्टि में हमें यह भान होता है कि पश्चिम से हम तक जो ज्ञान आया है, वो सभी क्षेत्रों में समान रूप से प्रामाणिक है, उतना ही जितना कि विशुद्ध विज्ञान के क्षेत्र में। अब धीरे-धीरे ये भावना उत्पन्न हो रही है कि वे ठीक नहीं हैं। एक और चीज़ यहाँ देखने की है। हो यह रहा है कि पश्चिम के जिस ज्ञान को हमने पकड़ रखा है, पश्चिम खुद उसको नहीं पकड़े हुए है। अगर आप पिछले पचास साल का इतिहास देखें, किसी भी शास्त्र में देखे, तो पायेंगे कि ऐसा कोई शास्त्र नहीं है जिसमें पश्चिम में मूलगत परिवर्तन नहीं आये हों। नये आधारभूत

प्रश्न नहीं उठाये गये हों। गणित, जहाँ प्रमाण के आधार को ध्रुव, नित्य, माना जाता है, वहाँ भी आधार तक पैठते प्रश्न उठे हैं, परिवर्तन आये हैं। लेकिन हमने तो पश्चिम के किसी पिछले रूप को रूढ़ि बना रखा है। वही टिके हुए हैं; न पश्चिम को आगे बढ़ाते हैं—नकल में ये सम्भव नहीं—और न स्वयं अपनी गति से आगे बढ़ते हैं। फिर भी धीरे-धीरे हम भी मेच्योर हो रहे हैं। अपने प्रश्न उठाने लगे हैं, और नये प्रश्न उठेंगे तो नया ज्ञान भी उभरेगा। ऐसा ज्ञान जिसमें नये प्रश्न और उन पर नये विचार पश्चिम के ही नहीं होंगे, हमारे भी होंगे। ऐसे प्रश्न हमारे यहाँ उठ रहे हैं, लेकिन उधर हमारा ठीक से ध्यान नहीं जाता। जब आने वाले काल में हम पिछले इतिहास की ओर देखेंगे, तब उनका महत्त्व सामने आयेगा। हमारे विचारकों ने पश्चिम के चिन्तन पर, चिन्तन की कोटियों पर गहरे मूलभूत प्रश्न उठाये हैं। कह चुका हूँ, इतिहासबोध कालबोध होता है। काल को साक्षी रख कर बात को परखिये। हम इतिहास इतिहास का राग तो अलापते हैं, पर बँधे वर्तमान से हुए हैं! यो वर्तमान से बँध जाना इतिहासबोध का लक्षण नहीं है।

मुकुन्द जी : मुझे लगता है यहाँ दो बाते हैं। पहली बात विज्ञान की। आपने कहा कि विज्ञान में दो सौ, तीन सौ साल की बात है; विज्ञान में एक विशेष प्रतिभा ने, दृष्टि ने, प्रकाश पाया है, और वह ज्ञानमात्र को एक विशेष दिशा में ले जाता रहा है। विज्ञान की प्रतिभा अब दूसरों में भी जड़ कर रही है, और धीरे-धीरे, सब उसको अपना-अपना रूप दें तो अचम्भे की बात नहीं होगी। एक अनेकान्त की भनक—या बहुवचन की झलक कहिये—विज्ञान में ही दिख रही है। पहले श्रद्धा से माना जाता था कि जो सब से बड़ा, सब से अटल विज्ञान है, फिज़िक्स, उसने ज्ञान में अनेकान्त को सदा के लिए बहिष्कृत कर दिया है। वह एक ही संशयहीन निश्चय पर पहुँचाता है। और फिज़िक्स का आधार गणित—गणित में तो अनेकान्त की बात ही जैसे असम्भव मानी जाती थी। ज्ञान की ये दो धारायें, जो आधुनिक काल में अधिकाधिक विकसित हुई हैं जो अनेकान्त को हस कर बुद्धि को एक निश्चल अध्यवसाय तक ले जाती हैं। इन्हीं से ज्ञान में अभूतपूर्व क्रान्ति आयी है। आस्था और निश्चय का ये भरोसा अब डगमगाता दिखता है। फिज़िक्स और गणित में भी अनेकान्त सिर उठा रहा है। प्रमाण का आधार विचलित होने लगा है। अब ये ज्ञान उस आत्मतोष से आगे नहीं बढ़ रहे हैं, जैसे पहले बढ़ रहे थे। फिज़िक्स में बड़ी बात यह थी कि सिद्धान्त और प्रयोग, यह साथ

चलते थे, एक-दूसरे के सहायक और पूरक थे, दोनों मिल कर बुद्धि को निश्चय तक ले जाते थे। अब दोनों के सम्बन्ध में दरार दिखायी देती है। अब जो सिद्धान्त बन रहे हैं, कुछ पुराने सिद्धान्तों की तरह हैं, उनके बारे में धारणा बन रही है कि वो प्रयोग में उतारे ही नहीं जा सकते। प्रयोग से सिद्ध-असिद्ध नहीं किये जा सकते। सिद्धान्ततया ही ऐसा सम्भव नहीं—जैसे स्ट्रिंग थ्योरी। अगर ये सच है और फिज़िक्स में ही अनेकान्त की आहट है तो दूसरे ज्ञान जो फिज़िक्स को मर्यादा पुरुष मानते हैं, उनमें निश्चय कैसे टिकेगा? बहुवचन की प्रवृत्ति निःसंकोच पाँव फैलायेगी। भिन्न संस्कृतियों की भिन्न दृष्टियाँ, भिन्न विचार-तन्त्र, पश्चिम के उतने मुखापेक्षी नहीं रहेंगे।

पर आपने विज्ञान के अलावा समाज-चिन्तन की भी बात की। यही विड़म्बना दिखायी देती है। यहाँ तो अलग संस्कृतियों में कुछ अपनापन अनायास होना चाहिये था, पर यहाँ भी घोर पश्चिम-तन्त्रता है। विचार और व्यवहार दोनों में। हम अपनी ओर ही देखें। दूसरी जगह भी, मैं समझता हूँ, ऐसा ही कुछ पायेंगे। शायद जिसको आपने अरब सभ्यता-संस्कृति कहा, उसमें ऐसा कम हो। पर चीन में तो कम नहीं लगता। हमारी एक समृद्ध समाज-चेतना थी, समाज-तन्त्र था, उसके साथ जुड़ा हुआ समाज-चिन्तन, चिन्तन की कोटियाँ थीं। मनुष्य के आचरण-व्यवहार के क्षेत्र को हम धर्म कहते रहे हैं। मनुष्य के लिए उचित क्या है, राजनीति क्या हो, कानून क्या हो, व्यष्टियों और समष्टियों के सम्बन्ध क्या हों, कैसा परस्पर-भाव हो, कैसी स्वतन्त्रता हो, ऐसी बातें धर्म के अन्तर्गत आती थीं। इन सब पर हमारे यहाँ विशद चिन्तन हुआ है। इस चिन्तन के पीछे हमारी एक अपनी प्रज्ञा थी जिसमें अनेकान्त भी सहज बसा हुआ था। आज समानता का आदर्श है। उससे यह हुआ है कि सबको बराबर ही नहीं एक साथ किया जा रहा है—यूनिफार्म। ये एक 'आधुनिकता' की बड़ी निशानी है, विचार और व्यवहार में जिसकी जड़ें पश्चिम में ही हैं। न्याय और समानता की बात कहाँ नहीं रही है, पर आज की सभ्यता और समाज चिन्तन, जनतन्त्र की भावना, जिस आदर्श की ओर एकाग्र हैं वो एक गणित जैसी, गिनती जैसी बराबरी का आदर्श है। एक, एक एक, सब एक से सपाट—हमारे लक्ष्य की माँग ये हैं कि सब सपाट हो जायें। मनुष्यत्व-रूपी दियासलाई की एक सी तीलियाँ। राज्य हो और व्यक्ति हो, बीच में कुछ नहीं—राज्य सब व्यक्तियों को एक सा बनाये, रखे और पाले, एक सा इन्द्रियसुख दे;

भिन्न राज्यों और राष्ट्रों का भेद मिट जाये और मनुष्यता एकराज्यता की ओर कूच करे। फिर सब एक से रहें—सबमें वही पश्चिम का 'आधुनिक' समाज-तन्त्र, वही विचार-तन्त्र, वही दृष्टि, वही आदर्श हो। एक ही विश्व-तन्त्र को एक बन कर चलायें। एक केन्द्र हो। मनुष्य एक है, सचमुच एक हो जाये; आज जिस तरह की एकता की बात है, बड़ी जड़, बेरंग, सपाट सी एकता है। व्यक्ति की एकता के नाम पर व्यक्तित्व का निरादर है, सबको एक कर देने की जैसी प्रवृत्ति है, वह सच्चे व्यक्तिबोध से, व्यक्ति-विवेक से हमें वंचित करना चाहती है। भिन्न समष्टियों के भेद का, उन के स्वातन्त्र्य का और उनके स्वातन्त्र्य में पलते वैविध्य का भी निराकरण है। आज हम इस एकता के रास्ते पर चलते हुए अपनी विविधता के गीत गाते हैं, पर गीत का खोखलापन बढ़ रहा है।

पश्चिम के लोगों ने जो हमारे 'धर्म' पर लिखा है, यही कहते हैं कि यहाँ ऊँच-नीच का ढ़ाँचा ही सब कुछ था। न स्टेट (राष्ट्र, राज्य) की सही धारणा थी, न कानून की—ये शक्ति के एक राज्य-केन्द्र की धारणा चाहते हैं, और ये धारणा थी ही नहीं, थी तो धुँधली थी। पश्चिम के साथ आयी है। वरना यहाँ तो शक्ति की बहुकेन्द्रता थी, जातियाँ, श्रेणियाँ, संघ और इनके अपने-अपने कानून। धर्मशास्त्र कहने को तो शासन के लिए होता है, पर वहाँ भी शास्त्र और प्रयोग में—आचरण में व्यवहार में—वही सम्बन्ध था जो संगीत में होता है—सम्भावनाओं की ओर बहुलता की स्वीकृति। कानून था भी तो ऐसा कानून नहीं था कि कोई निश्चित हो कर ये कहे ये कानून है, और समाज में सब पर लागू होता है। हाँ, एक औचित्य का अगर ऐसा बोध था भी, जिसमें एक सर्व-सामान्यता का भाव या आदर्श था, तो भी उसको नियत, सार्वजनीन नियमों में कसा नहीं जाता था। किसी एक नियम को सब पर लागू करने का कोई मार्ग ही नहीं सोचा गया था। जो जैसे चलता था, बहुत दूर तक वैसे ही उसे चलने दिया जाता था।

दया जी : पश्चिम में भी इस विषय में संशय उत्पन्न हुआ है। नये विचार आ रहे हैं। एक धारणा है मल्टिकल्चरलिज़्म की। एथनिसिटी की धारणा है। लेकिन इसको किसी विचार-दृष्टि के साथ कर्म में कैसे उतारा जाये, ये प्रश्न है। ऐसी किसी धारणा को व्यवस्था में स्थान देना हो तो आज की व्यवस्था में ये बड़ी समस्या है। आज की व्यवस्था कुछ तो एक-केन्द्रता, एक ही नियम-कानून, एक ही ढ़ाँचा चाहती ही है—उसके बिना आज व्यवस्था ही सम्भव नहीं।

लेकिन इससे गहरी एक समस्या है, जिसकी ओर न तो पश्चिम के विचारकों ने ध्यान दिया है, न समाज-वैज्ञानिकों ने। अगर आप प्रजातन्त्र भी मानते हैं और बहुवचन या बहुतन्त्रता भी मानते हैं—ये मानते हैं कि हर समूह को राजनैतिक स्वातन्त्र्य का अधिकार होना चाहिये—तो इसमें एक गुत्थी छिपी है जिसकी ओर, मैं समझता हूँ, बहुत ध्यान नहीं दिया गया है। आज किसी भी देश को लें—भारत को लें, लंका को लें—हर छोटे-बड़े देश में कई सांस्कृतिक समूह हैं। यह सभी समूह कहें कि हमें सांस्कृतिक स्वातन्त्र्य के लिए राजनीतिक स्वातन्त्र्य चाहिए तो हम कहाँ रुकें? प्रश्न होगा कि किसी समूह की संस्कृति सचमुच स्वभाव-स्वरूप में अलग है, इसकी क्या पहचान होगी? क्या निकष होगा? कैसे निर्णय होगा कि अमुक समूह संस्कृति में कोई आधारगत भेद है? आज करीब दो सौ राज्य हैं जो यू.एन.ओ. के सदस्य हैं। हम स्वतन्त्रता के झण्डे उठाते हैं, पर इन स्वतन्त्र कहलाने वाले, आँकड़ों में स्वतन्त्र गिने जाने वाले राज्यों की भी स्वतन्त्रता क्या है? फिजी, मॉरिशस, इनकी स्वतन्त्रता का क्या अर्थ है? स्वतन्त्र तो केवल अमरीका है, या फ्रान्स, जर्मनी, इंग्लैण्ड, इनके अलावा और थोड़े से राज्यों को ले लीजिये। ये स्वतन्त्र हैं और स्वतन्त्र है कौन? सच पूछिये तो अकेला अमरीका ही आज स्वतन्त्र है। दूसरों के तन्त्र भी वो चला सकता है। चाहे तो इराक पर हमला कर दे। जो चाहे कर बैठे। कौन रोकेगा?

मुकुन्द जी : एक पुराने संस्कृत नाटक में (भाण में) समस्या को व्यंग्य के साथ उठाया गया है। नाटक को नहीं लूँगा, पर वहाँ यह उभरता है कि समस्या का राजनैतिक ही नहीं एक और भी गहरा स्तर है। एक साधारण धर्म या सार्वजनीन औचित्य की पहेली है। क्या कुछ ऐसे धर्म—शील और आचरण के आदर्श—नहीं जो मनुष्यमात्र में, समूहमात्र में स्वीकार्य होने चाहियें? फिर किसी समूह की स्वतन्त्रता स्वयंभू तो नहीं होती, किसी बृहत्तर तन्त्र के भीतर होती है। किस सीमा तक स्वतन्त्रता हो, यह भी प्रश्न है। इस पर हमारे यहाँ चिन्तन हुआ है। पर हम बहुवचन को श्रेय मानें तो भिन्न समूहों को भिन्न आचरण की स्वतन्त्रता किसी तरह तो देनी होगी।

दया जी : हाँ, अपनी तरह आचरण करें पर राज्य की स्तवन्त्र सत्ता तो मानें। आज हमारे देश में—और अन्य देशों में—जो समस्या उठ रही है वो यह है कि झगड़ा सांस्कृतिक स्वतन्त्रता का नहीं, राजनैतिक स्वतन्त्रता का है। समूहों को संस्कृति की नहीं राजनैतिक स्वतन्त्रता की चाह है—कहते हैं जब तक हम राजनीति की दृष्टि से स्वतन्त्र

नहीं होंगे, स्वतन्त्र ही नहीं होंगे। यह भी पश्चिम ही की देन है। वहीं से यह, संस्कृति का यह राजनीतिकरण आया है। बाद में यही पश्चिम के लिए मुसीबत भी पैदा करेगा। अभी देखो चेकोस्लोवाकिया में क्या हुआ। चेक और स्लोवाक, दो अलग-अलग देशों में बँट गया। यूगोस्लाविया में देखो क्या हुआ। धीरे-धीरे ये प्रवृत्ति और जगह फैलेगी। जब फैलेगी तो क्या इलाज होगा?

मुकुन्द जी : आप क्या कहना चाहते हैं आज का बहुवचन विकृत है? पहले यह था कि एक ही राज्य के नीचे अलग जातियों को स्वतन्त्रता होती थी। राजनीतिक स्वतन्त्रता की आवश्यकता नहीं होती थी। भारत में ये चलन रहा है। दूसरी जगह भी ऐसा कुछ रहा होगा। चलन था कि आप अपने संचालन में, कानून में, आचरण में—रहन-सहन, संस्कृति में—दूर तक स्वतन्त्र हैं, क्योंकि आपकी अलग जाति है, उसकी अलग प्रथा, परम्परा है। आज संस्कृति में स्वतन्त्र तो बस व्यक्ति है, वह चाहे तो कोई अपनापन—व्यक्तित्व-साधे। समूह इस अर्थ में स्वतन्त्र नहीं है। अगर समूह को स्वतन्त्र होना है तो एक ही रास्ता है—राजनीति में स्वायत्तता साधो। अलग राज्य होगा तभी स्वतन्त्रता होगी। ललक सत्ता की है, संस्कृति की नहीं।

पर आपकी बात में मुझे एक और तात्पर्य निहित दिख रहा है। ये कि बहुवचन मनुष्य में स्वाभाविक है। जिस ग्लोबल व्यवस्था और संस्कृति की बात आज हो रही है, विशेषकर पश्चिम में, वो बात मूल में बनती दिखायी नहीं देती। आज जो एक व्यापक संस्कृति फैलने की ओर प्रवृत्ति है, वह अपने भीतर एक एकसापन—एक सपाट एकसापन—लागू करने की चेष्टा करती दिखती है। एक बहुवचन देशभेद से उभर रहा है, लोग नयी जाति नहीं बनाते, नये देश बनाते हैं—पर जाति या श्रेणीभेद की तरह उसका आधार संस्कृति भेद नहीं है। देश स्वतन्त्र हो कर क्या करते हैं? स्वतन्त्रता का क्या प्रयोग करते हैं? हर देश स्वतन्त्र हो कर अधिक पश्चिम की ओर मुड़ता है—अब हम स्वतन्त्र हैं, उधर अथक बेरोक मुड़ सकते हैं। कुछ देश ऐसा पूरी तरह कर नहीं पाते, पुराना इतिहास रोकता है—पर ललक यही रहती है। स्वतन्त्र हो कर ललक भी और मुक्त सी हो जाती है। बड़ी विचित्र प्रवृत्ति है, पर कहीं न कहीं जा कर रुकेगी—अगर मनुष्य के स्वभाव में बहुवचन है। फिर यह भी है कि अपनी परम्परा की हम पर बड़ी विचित्र पकड़ होती है—जो अनहोनी सी लग सकती है। और परम्पराओं में विविधता होती है। आज धर्म की—रिलीजन के अर्थ में धर्म की—परम्पराओं को

देखिये। बड़ी तेज़ी से उभर रही हैं। हमारे यहाँ ही नहीं, पश्चिम में भी देखिये। युगबोध लोगों को पकड़ रहा हो या नहीं, धर्मबोध ज़रूर पकड़ रहा है। धर्म के चले आते संस्कार नया रूप, नया वेग ले रहे हैं। भागवत के प्रवचन में जितने लोग जाते हैं, बौद्धिक चर्चा में नहीं जाते। मैं भी गया हूँ। कोई बुद्धि-विहीनता की बात नहीं होती। बुद्धिशील, पढ़े-लिखे सुनने जाते हैं। बातचीत में युक्तिबोध भी होता है। पर युगबोध जैसा कुछ नहीं होता। जो लोग युगबोध की बात करते हैं, वो युनिवर्सिटी के विचारक होते हैं। भागवत-प्रवचन की चेतना इससे बहुत भिन्न है। वहाँ विचार भी होता है, अपनी तरह का, प्रवचन में एक विचार निहित रहता है। पर जिसको बुद्धिजीवी विचारक कहते हैं उस जैसा विचार नहीं होता। वो एक अलग संस्कृति जो बोध को, शील और आचरण को, एक ओर ले जाती है वैसे ही जैसे युगबोध वालों की संस्कृति उनको एक ओर ले जाती है। साइंस वाले भी भागवत सुनने आते हैं। उनको साइंस में और भागवत में कोई विरोध नहीं दिखता। यह जो धर्मबोध फैल रहा है यह कहाँ ले जायेगा? ऐसे बोध की परम्पराओं को हम निर्बोध की परम्परायें मानते हैं—इनको संस्कार-प्रधान, अनुष्ठान-प्रधान कहते हैं, बुद्धि-प्रधान नहीं। पर वो बढ़ रही हैं—पढ़े-लिखों में भी बढ़ रही हैं। बच्चों से अंग्रेज़ी में बातचीत करने वाले भी कक्षाओं में जाते हैं—युगबोध वालों को जितनी अंग्रेज़ी आती है, भागवत वालों को भी आती है। पश्चिम में तो सभी (परिभाषया) पढ़े-लिखे होते हैं। वहाँ भी ऐसी प्रवृत्ति बढ़ रही है। वहाँ के विद्यार्थियों में बढ़ रही है।

दया जी : पर एक बड़ा भेद है जिसकी ओर तुम नहीं देख रहे। आज जो व्यक्ति धर्म की ओर बढ़ता है, वो धर्म की रूढ़ियों की ओर नहीं बढ़ता। वो एक अध्यात्म चेतना की ओर बढ़ता है। वो समझता है कि कुछ है जो देशकाल से परे है, और मेरी चेतना में आविष्ट है। वो उसकी खोज करता है। आज हम लोग जब व्यक्ति की बात करते हैं, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की बात करते हैं, समाज की बात करते हैं, समाज-चेतना की, युग की, बात करते हैं, तो चेतना के इस आयाम की ओर देखते तक नहीं। समाज में—या युग में—अवस्था ये बन रही है कि स्वतन्त्रतायें अधिकाधिक नष्ट हो रही हैं। आज हमारा परिवेश हम को जकड़ देना चाहता है। जो लोग युगबोध की बात करते हैं वो मनुष्य के स्वातन्त्र्य को नष्ट करना चाहते हैं। उसे एक साँचे में ढ़ाल देना चाहते हैं। एक तन्त्र आप पर थोपना चाहते हैं—एक अध्यास कहिये, एक मिथ्याबोध—उसे आप पर डालना चाहते हैं। हमसे कहते हैं, तुम्हारा विचार पुराना है, दकियानूसी से

भरा है। ये नहीं देखते कि विचार ठीक है या गलत। कहते हैं कि विचार वैसा नहीं है जैसा आजकल फैशन में है। स्वातन्त्र्य की बात करते हैं, पर स्वातन्त्र्य को स्वीकारना नहीं चाहते।

इसके मूल में मैं कम से कम दो बातें मानता हूँ। एक ये कि इधर काफी अरसे से ऐसे लोग, जिन्हें हम विचारक कहते हैं, वो ये नहीं जाँचते कि आप जो कह रहे हैं, सत्य है या नहीं है, उसका आधार क्या है, प्रमाण क्या है। वो ये देखते हैं कि आप किस गुट या सम्प्रदाय के हैं—आप प्रगतिवादी हैं या नहीं। प्रगतिवादी हैं तो जो कहें सब ठीक है। यह विचार को एक विशेषण में, एक ठप्पे में कसना है—अमुक 'वाद', अमुक्त 'वादी'। ये विशेषण विचारक नहीं पकड़ता। विचारक पर ऐसे विशेषण लागू नहीं होते हैं। किसी अभिप्राय से ऊपर से चिपकाये जाते हैं। इसी तरह हम कहते हैं कि आपका विचार परम्परावादी है, बी.जे.पी. का है, या संस्कृतनिष्ठ है। यों बात करने का क्या अर्थ होता है? आप व्यक्ति का स्वातन्त्र्य नष्ट कर रहे हैं। कोई व्यक्ति कुछ बात कहता है तो पूछिये, समझिये, क्या कह रहा है। कहने का आधार क्या है। बात की सत्य-मिथ्या को परखिये। चर्चा कीजिये। आज खुली चर्चा के क्षेत्र समाप्त हो रहे हैं। आप 'लेफ्ट' के हैं या 'राइट' के हैं, यह बात कुछ कम होती दिख भी रही है, तो 'जार्गन' (खोखले भारी-भरकम शब्दों के ढ़ेर) की आमदनी होने लगी है। इनमें विचार ढूँढ़ना पड़ता है कि कहाँ छुपा है, और ढूँढ़े नहीं मिलता। मेरे कहने के दो अर्थ हैं—पहली बात यह कि स्वातन्त्र्य की बात ही करते हैं, स्वातन्त्र्य का तात्पर्य नहीं समझते। दूसरी बात यह कि स्वातन्त्र्य का अर्थ है दूसरे को सुनना। दूसरे को समझने की कोशिश करना। उसकी बात में कुछ ठीक लगे तो उसे मानना, अपनी बात को बदलना। जब वास्तव में वार्तालाप या संवाद होता है तो उसके सहारे हम आगे बढ़ने की कोशिश करते हैं। दूसरे से सीखते हैं, दूसरे शायद हमसे सीखने की कोशिश करते हैं। आज जहाँ तक मुझे दिखता है, यह बात समाप्त हो चुकी है। बहुत कम हो गयी है।

मुकुन्द जी : अभी पिछले दिनों तक नव्य-नैयायिकों में ये चलन था कि कोई नैयायिक बाहर से लौटा हो तो उसे पूछते थे कि कोई नया पूर्वपक्ष लाये हो क्या? विचार के रूप में लेते थे पूर्वपक्ष को। आज का युगबोध पूर्वपक्ष की बात नहीं करना चाहता—आपके हाथ में एक बना-बनाया सत्य थमा देना चाहता है।

दया जी : पर यह नहीं भूलो कि नैयायिक का अपना एक बना-बनाया सिद्धान्त होता है, जो किसी पूर्वपक्ष से बदल नहीं सकता। पूर्वपक्ष केवल

खण्ड़न के लिए होता है। नैयायिक की परेशानी है कि एक सिद्धान्त है जिसका हर हालत में संरक्षण करना है। पूर्वपक्ष का नाश नैयायिक के लिए ऐसा ही है जैसे यज्ञ में असुर का नाश। ये बौद्धिकता का लक्षण नहीं है। बौद्धिकता किसी सिद्धान्त का हठ या आग्रह नहीं करती; अपनी बात के लिए कहती है कि अब तक सोच समझ कर यही ठीक पाया है। इसमें दोष है तो परिष्कार करेंगे। किसी चीज़ को पकड़े रखना न बौद्धिकता का लक्षण है, न स्वातन्त्र्य का।

मुकुन्द जी : आप क्या यह कह रहे हैं कि विचार में स्वातन्त्र्य का लक्षण तत्त्व का अन्वेषण है, ये नहीं कि हमें एक तत्त्व मिला हुआ है, या मिल सकता है?

दया जी : मैं कुछ और कहना चाहता हूँ। दरअसल विचार न तत्त्वान्वेषण है न सत्यान्वेषण। विचार अपने अनुभव के प्रति जागरूकता है। ये जागरूकता ऐसी है कि बात किसी भी क्षेत्र की हो—कर्म की, ज्ञान की, भावना की—बात को परखने के लिए अनुभव मेरा निकष है। उस निकष पर मैं विचार को परखता रहता हूँ। और चूँकि अनुभव बदलता भी रहता हूँ, चारों तरफ देखता रहता हूँ, दूसरों से सीखता रहता हूँ, इसलिए मैं अपने साथ अपने विचार में भी परिवर्तन पाता हूँ। गाँधी जी ने कहा था 'सत्य के प्रयोग'। जो आदमी प्रयोग नहीं करता अपने साथ वो मेरी समझ में आदमी नहीं है।

मुकुन्द जी : दया जी, एक बात है लेकिन। सिद्धान्तों के प्रति आग्रह की बात लीजिये। ऐसा लगता है कि ये विचार में निहित है। विचार चाहे अधूरा, अनिश्चित ही रहता हो पर वह स्वभाव से ही एक पूरे की ओर, एक अवयवी की ओर उन्मुख होता है, वही सत्य है, सिद्धान्त है, तत्त्वदर्शन है। इस अवयवी के बिना विचार में संगति का भी क्या अर्थ होगा? सिद्धान्त के आग्रह को विचार में संगति का आग्रह भी कह सकते हैं। हम कुछ भी बनाते हैं उसमें मेरी—किसी व्यक्तिमात्र की ही—बात नहीं होती। व्यक्ति प्रमाण नहीं होता। एक बनने की अपनी तुला होती है। यह ठीक है कि व्यक्ति ही बनाता है, व्यक्ति ही विचार करता है—यहाँ तक कि जो सबसे बड़ा पुरुषार्थ (और तत्त्व) माना गया है अपने यहाँ, मोक्ष, वो भी व्यक्ति ही की साधना है, व्यक्ति ही को मिलता है—पर ये व्यक्तिवाद नहीं है, जहाँ समाज बनाम व्यक्ति, यों व्यक्ति को देखा जाता है। यहाँ व्यक्ति, 'समाज में रह कर समाज से कुछ अलग' इस अर्थ में समाज का ही एक विक्षेप सा नहीं है। व्यक्तिवाद में जिस व्यक्ति की कल्पना है, उसका कोई भी अन्वेषण, चाहे मोक्ष का हो या किसी अनुभव का, विचार का, वह

एक बँधी हुई परिधि में रहने को बाध्य लगता है। व्यक्ति के अपने सीमित 'होने' से घिरा हुआ। यही व्यक्तिवाद की समस्या है। इसके आधार पर सामान्य, सार्वजनीन कुछ नहीं बन सकता। पुराने चिन्तकों में ये बात यों उभरती है कि मोक्ष और मोक्षार्थी के आधार पर धर्मशास्त्र नहीं बन सकता—कोई ऐसा संविधान नहीं बन सकता जो समाज को रूप दे।

पर विचार पर आइये। आपने विचार में परिवर्तन और नयेपन की बात की। पर नये के साथ क्या एक गहराई, एक प्रज्ञा का आविर्भाव भी नहीं अपेक्षित है? पाक जिसको कहते हैं, वो भी तो आना चाहिये। पर यहाँ एक गुत्थी है। एक व्यक्तिनिष्ठ पाक तो होता ही है, व्यक्ति की हर साधना में उभरता है। पर क्या ऐसा कोई समाजों में भी उभरता है? जो ये पैठ, ये प्रज्ञा दे कि समाज को अधिक से अधिक समुचित रूप मिलता जाये। आज का गणतान्त्रिक कहता है कि आज के गणतन्त्र में प्रज्ञा का ऐसा ही पाक है। पर लगता तो नहीं है।

दया जी : व्यक्ति की चेतना के दो पक्ष हैं। आपका अपना एक केन्द्र है। आप में भावना है; पर आप कर्म भी करते हैं। आप जानते हैं कि दूसरे के प्रति आपकी चेतना केन्द्रित होती है। आप सोचते हैं मेरा व्यवहार दूसरे को हानि तो नहीं पहुँचा रहा? यानी आप में एक मूल्य-चेतना होती है। श्रेय, औचित्य, इनका बोध होता है, जो अन्य-केन्द्रित होता है, स्व-केन्द्रित नहीं। फिर जिस 'व्यक्ति' की हम बात करते हैं, वो किसी न किसी व्यवस्था-तन्त्र में कहीं न कहीं स्थित होता है—वकील, जज, डॉक्टर, कुछ तो होगा ही। उसके अपने काम में रोज़ कोई न कोई समस्या उठती है। तो वह दिन-रात एक्सपेरिमेन्ट करता है, अपने साथ-दस बजे ठीक टाइम से काम पर पहुँचा कि नहीं, व्यवहार ठीक किया कि नहीं। ये भाव जैसे-जैसे अधिक व्यक्तियों में व्याप्त होता है, समाज में, राज्य-व्यवस्था में एक परिष्कार आता है। एक भावना उत्पन्न होती है : 'परस्परं भावयन्तः श्रेयः'। मैं इसको यों कहता हूँ : 'परस्परं भावयन्तः प्रेयः'। हम एक-दूसरे के सुख का कारण बनते हैं, सहायता का कारण बनते हैं। ऐसा कोई समाज नहीं है जहाँ नियमों में परिवर्तन नहीं आता। आप अपने ही यहाँ सुप्रीम कोर्ट के जजमेन्ट्स देखिये, पब्लिक इण्टरेस्ट लिटिगेशन देखिये—एक भावना है कि नियमों में परिवर्तन होना चाहिए। परिवर्तन की दिशा भी है। यह भी विचार है कि परिवर्तन की दिशा होनी क्या चाहिये? मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि यह कहना ठीक नहीं कि जो विचार व्यक्ति को केन्द्र में रखता है वह समाज को, राज्य को, नहीं देखता। व्यक्ति हम जिसे कहते हैं, वो

स्वयं केन्द्र है ही कहाँ? वो सम्बन्धों का केन्द्र है। इनसे अलग अपने आप में कुछ नहीं। जिस व्यक्ति की मैं बात कर रहा हूँ वो समाज में है, राज्य में है, पर जागरूक है, उसकी चेतना अन्य केन्द्रित है। वह उस अर्थ में स्व-केन्द्रित नहीं है जिस अर्थ में कहते हैं, आत्मानं विद्धि। उसकी आत्मा अन्य से सम्बन्धित है।

मुकुन्द जी : दया जी, एक बात यहाँ और है—आपने जो व्यक्ति को सम्बन्धों का केन्द्र कहा, उसमें निहित भी है। व्यक्ति केवल मानव-सम्बन्धों का ही केन्द्र नहीं है, कई लोकों का भी केन्द्र है। उसके कई आयतन हैं। इन आयतनों को वो स्वतन्त्र हो कर साधता है। व्यक्ति के रूप में ये आयतन उसको दूसरों में भी दिखायी देते हैं—ज्ञान के, कर्म के, भावना के, अध्यात्म के। ये न हों तो व्यक्ति का केन्द्र क्या है? बस अहम् है। मुझे तो 'परस्परं भावयन्तः' का यही अर्थ दिखता है कि जो मैं साधना कर रहा हूँ, उसमें कोई औचित्य, कोई फल जैसा फल, कोई भूमा, कोई विराट भाव दिखता है, तो दूसरों में भी जगाऊँ, जहाँ तक हो सके उसका निमित्त बनूँ। परम्परा का, शिक्षा आदि का यही मूल होता है। और ये बात तभी बन सकती है जब व्यक्ति भी आत्मभावन कर रहा हो। अपनी आँखों को कोई भूमा नहीं दिखेगी, तो दूसरे को क्या दिखायेगा?

दया जी : इस पर दो बातें कहूँगा। एक निमित्त-भाव है, जिसकी तुमने बात की, और एक उत्तरदायित्व का भाव है, जो भिन्न है। केवल निमित्तभाव से काम नहीं चलता, जब तक अन्य के प्रति उत्तरदायित्व का भी बोध न हो। तुमने लोकों की बात की। हाँ, कई लोक ऐसे हैं, जो मेरी आत्म-केन्द्रित साधना के लोक हैं, इन्हें आत्मलोक कह सकते हैं। लेकिन कई लोक ऐसे भी हैं जिनकी मैं अकेले साधना कर ही नहीं सकता। जैसे मित्रता है, प्रेम है, स्नेह है। यहाँ मेरी साधना अन्याश्रित होती है। अब प्रेम, मित्रता, इनमें अन्य एक होता है। पर जहाँ समाज की बात है वहाँ साधना एक पर नहीं, अनेक पर आश्रित होती है। मुझमें इस आश्रितता का बोध जागता रहता है। तभी मुझे ये ज्ञान भी होता है कि अन्य भी समाज के सम्बन्धों में मुझ पर आश्रित है। जब मुझ में ये चेतना जागती है कि इस क्षेत्र या इस लोक या आयाम में दूसरा मेरे ऊपर आश्रित है तो उत्तरदायित्व की भावना उत्पन्न होती है।

मुकुन्द जी : ये ठीक है, और इसी बात से युगबोध—या युगभावना कहिये—उस पर फिर से आता हूँ। परस्परं भावयन्तः के बोध ने अपने यहाँ एक युग की भावना जगायी है—सतयुग की। सतयुग में लोग परस्पर-भाव के साथ साधना करते हैं—बिना आयाम के,

स्वभाव से, सहज भाव से, एक-दूसरे के स्वातन्त्र्य का ध्यान रखते हुए, एक-दूसरे को साधना-संगी बना कर साधना करते हैं। तभी सतयुग में, राजा को, राज्य को दण्ड़ आवश्यकता नहीं होती। अन्तरंग परस्पर भाव ही व्यवस्था होती है—अलग से व्यवस्था की जरूरत नहीं होती। निर्व्यवस्था में व्यवस्था का स्वयंभू मर्म उजागर रहता है। व्यवस्था देनी नहीं पड़ती, होती है। ये कल्पना है सतयुग की। लेकिन देखिये, राज्य और समाज के स्तर पर परस्पर-भाव की हम कल्पना ही कर सकते हैं—उस ओर बढ़े कहाँ हैं? मनुष्य के इतने लम्बे इतिहास के बाद उसका परस्पर भाव किसी सतयुग जैसे आदर्श की ओर कुछ भी बढ़ा हो, ऐसा दिखता तो नहीं है। हरेक देश में व्यवस्था के पीछे दण्ड़ है; और भिन्न देशों का 'परस्पर भाव' तो दण्ड़ ही नहीं आज भी साम, दाम, भेद, छल-कपट इन पर आश्रित है। परस्पर-भावन नहीं के समान है। आज जितने युद्ध हो रहे हैं, जितने हथियार बिक रहे हैं, पहले कब होते थे—या चलिए ऐसा होता भी होगा तो आज साफ दिख रहा है—राजनीति में नयी कौन सी परस्पर चेतना जागी है? बड़े-बड़े देश, अपने भीतर 'उत्तरदायित्व' की परम्परा पालने वाले देश और 'मानव अधिकार' की दुहाई देने वाले देश, दूसरों को हथियार बेच कर अपनी समृद्धि बढ़ाते हैं। इस परस्पर-भाव में किस सतयुग की झलक है? मनुष्य का समाज अनिवार्यत: राज्य या देश का रूप लेता है, और देशों के बीच सम्बन्ध परस्पर-भाव का नहीं दण्ड का रहा है और है। उतना तो है ही जितना पहले था। कोई भी दायित्वबोध उसको दूर करता नहीं दिखता। दायित्वबोध तो देश का पक्ष लेता है। क्या आप देश के हो कर सोच सकते हैं कि हथियार डाल दें? गाँधी जी ने सोचा था, पर उन्होंने देश की बागड़ोर सम्भालने का दायित्व कहाँ उठाया। उठाते तो क्या सेना को छोड़ देते?

आपने मनुष्य-व्यापी, समाज-व्यापी परार्थ-भावना की बात की, पर जिस तरह की मूल्य-चेतना और लोक-साधना की बात की, वह साधना आत्म-केन्द्रित हो या अन्य-केन्द्रित हो, उभरता यही है कि वो व्यक्तियों के सीमित समूह में ही हो सकती है—पूरे मनुष्य समाज की कोई साधना नहीं दिखती। युद्ध ने संघ और पृथक् जन का भेद किया था, आज ये बात कुछ नागवार सी लगती है—पर, लगता है, है इस में कुछ बात।

दया जी : यहाँ प्रश्न है कि राजधर्म क्या हो? सोचो, राज्य की कल्पना समाज से अलग की जाये तो कैसा रहे? दण्ड़ की बात राजधर्म ही के साथ है। वैसे दण्ड की बात हमारे यहाँ अजीब तरह से सन्यास में भी की गयी है।

मुकुन्द जी : ये तो जानी हुई बात है कि सन्यासियों के सम्प्रदाय लड़ते भी थे। योरोप में भी ऐसे सम्प्रदाय थे। फिर चर्च का दावा ही था कि राजधर्म निर्णय की और राजधर्म-धारण की वो ही अधिकारिणी है। पर दण्ड़ की विभीषिका और गहरी है। समूह ही की भी बात लीजिये, चाहे सन्यासियों का ही समूह सही - समूह की अपनी दृष्टि होती है, अपनी साधना है,—दूसरे समूहों से भिन्न, दूसरे समूहों की विरोधी। परस्पर-भाव समूह के भीतर ही हो सकता है। दूसरे, भिन्न आदर्श, भिन्न दृष्टि के समूह से भिन्न, भिन्न प्रकार का अभ्युदय साधने वालों से, तनाव, टकराव स्वाभाविक है। हम देखते ही हैं कि अभ्युदय के विषय में भी विचार भेद ऐसी दशा तक जा पहुँचता है कि विचार दण्ड़ तक उतर आता है। तभी अपने यहाँ परम्परा रही है कि राजा एक ओर जहाँ समूह-भेद पनपने देगा, वहीं अपने दण्ड़ से वो समूहों को किसी तरह साथ भी रखेगा।

दया जी : लेकिन दण्ड़ के बारे में चिन्तन है कि उसे धर्म के अन्तर्गत रहना चाहिये। तभी ब्रह्मा को अदण्ड्य कहा है। धर्म के ही आधार पर राजाओं में सात्विक, राजसिक, तामसिक का भेद भी किया गया है।

मुकुन्द जी : लेकिन ये भी देखिये। हम सबमें शक्ति का एक पक्ष है दण्ड़। शक्ति साधना के मूल में भी होती है। जिसे हम दण्ड़ कहते हैं, वो शक्ति का छिन्नमस्त पक्ष है—वहाँ शिव से उसका सम्पर्क मिट जाता है। तभी वो छिन्नमस्ता कहलाती है। व्यवस्था में ही देखिये। राज-व्यवस्था में दण्ड़ होता है, तो बड़ी रूढ़ि भी होती है—पर रूढ़ि, चेतना का अभाव है।

दया जी : देखो असली बात ये है कि चाहे उत्तरदायित्व की भावना से हो, या कुछ और साधने के लिए हो—कविता ही ले लो—प्रश्न यही होता है कि रूढ़ि को, नियम को कैसे तोड़ें। नियम में परिवर्तन करें तो उसमें प्रतिभा कैसे लायें।

मुकुन्द जी : यह तो ठीक है। परस्पर भाव हो, साधना हो, अन्तरंग सम्बन्ध तो नियम तोड़ कर ही बनते हैं। पर राजधर्म नियम बिना बनता ही नहीं है, और ऐसे राजधर्म को हमारे यहाँ की प्रज्ञा सब धर्मों का आधार कहती रही है, और है भी, समाज के स्तर पर। लेकिन ये कितनी बड़ी विड़म्बना है, इसकी चर्चा नहीं होती।

दया जी : इस विरोध पर बात को समाप्त करें, और ये प्रश्न उठा कर समाप्त करें कि क्या राजा का कोई मित्र हो सकता है? क्या राजा सचमुच प्यार कर सकता है? क्या राजा सन्यास ले सकता है? और अगर राजा ये सब नहीं कर सकता तो इससे गहरी समस्या क्या हो सकती है।

❑